REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 11 | ISSUE - 3 | DECEMBER - 2021

''प्राचीन भारत में 'राजा' की उत्पत्ति के शाब्दिक व्याख्या एवं बदलते स्वरूप की समीक्षात्मक अध्ययन''

डॉ. श्रीकृष्ण सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर–इतिहास , पी.के.के. राजकीय महाविद्यालय जलालाबाद, शाहजहाँपुर

वैदिक ग्रंथों में सामाजिक तत्वों पर विचार करने पर राजन शब्द का प्रयोग भ्रांति मूलक है कारण कि वैदिक कालीन 'राजन' वास्तव में जिस रूप में देखा जाता है उसको उस रूप में देखने का भूल न करना ही हमारी वास्तविकता होगी। वास्तव में राजन शब्द की मूल व्यूत्पत्ति जनजातीय समझ की है। राजन शब्द के समक्ष लैटिन शब्द रेक्स का अभिप्राय सर्वसत्ताधारी व्यक्ति नहीं है, इससे यह अभिप्राय होता है कि क्या सही है अर्थात विविध तथ्यों के संबंध में मार्ग दर्शन करता है।[1]

संस्कृत में राजन् शब्द का परिचय राज् (चमकना) अथवा रज् (लाल होना रंगना, सज्जित होना) धातु से है[2] नैघुट 2:14 के अनुसार उसका अर्थ जाना से है।[3] यह उल्लेखनीय है कि नैघुंत ने रज्/रंज का अर्थ जाना बतलाया है वह राजि के अधिक निकट है, शतपथ ब्राह्मण में इस शब्द का प्रयोग रेखा[4] के अर्थ में समीचीन है, सम्भवतः इसकी उत्पत्ति राज्/रंज[5] धातु से हुई है। रंज धातु का आशय बिल्कुल उल्टा अभिप्राय से सम्बोधित किया गया है। यथार्थ से परे आदर्शवादी आधार पर बताया गया है कि राजा वह है जो लोगों को खुश रखता है। वैदिक साहित्यों के अध्ययन पर इसका अभिप्राय भिन्न दिखाई पड़ता है।

यदि राजन् की व्युत्पति 'राज्' (चमकना)[6] धातु से मानें तो इसका आशय अनेक व्यक्तियों में चमकने वाला व्यक्ति जिससे राजा होने का औचित्य सिद्ध हो। पर यह स्पष्ट है कि इस तथ्य का आशय मात्र इससे नहीं किया जा सकता कि केवल शारीरिक बल तथा सामरिक उपलब्धियों के आधार पर ही चमकता हो वरन् अपने वैद्धिक एवं भावात्मक गुणों के आधार पर भी चमकता है।

राज्न शब्द की व्युत्पति रज् अथवा रंज से माने इससे हमारी धारणा के अनुसार आरंम्भ में इस शब्द से जनजातीय नेता का बोध होता है।

यद्धपि भारतीय यूरोपीय[7] तथ्यों के आधार पर 'राजन्' शवद का अर्थ ऐसे व्यक्ति से लिया जा सकता है जो बस्ती बसाने अथवा धर्मस्थल बनाने के लिए जमीन का अधिग्रहण करता है। ऋग्वेद में उल्लेखित 'राजन्' का ठीक इसके विपरीत जान पड़ प़डता है। ऋग्वेद में 'राजन्' जनजातीय नेता होने का आभास कराता है अपने समुदाय के विविध कामों के अलावा पुरोहित का कार्य भी करता था। इस तथ्य की पुष्टि देवापि और शांतनु के उदाहरण से देखा जा सकता है। निरुक्त के अनुसार देवापि ने अपने छोटे भाई शांतनु के लिए, जो राजा बन बैठा था, वर्षा का आह्वान किया।[8] राजन् शब्द का अर्थ जनजातीय होने की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उसे जनस्य गोपा[9] अथवा गोपति बताया गया है। इस दोनों शब्दों का आश्य 'गौ' पालन करने वाला से लगाया जा

सकता है। इसका 'राजन्' शब्द से इसलिए प्रयोग किया जाने लगा कारण कि 'जाति' अथवा 'जन' की रक्षा करना उसका प्रमुख कर्तव्य माना गया है। ऋग्वेद मुख्य शब्द 'जनराजन'[10] का भी प्रयोग मिलता है।

मुख्यतः 'ऋग्वेद' में 'पंचजना' शब्द का अभिप्राय पांच जनों से है जिसका प्रयोग ऋग्वेद में बहुधा मिलता है। ऋग्वेद में 'जन' शब्द का उल्लेख 275 बार[11] हुआ है, जिससे जनजातीय समाज का अस्तित्व साफ–साफ देखा जा सकता है। अर्थात जन शब्द का तात्पर्य मूलतः 'जनजाति' से देखा जा सकता है, इनमें अनेक गोत्र तथा वंश का भी उल्लेख मिलता है। उत्तरवैदिक काल में जनजातियाँ खेती करने वाले कटुम्व समूहों मे और क्रमशः सामाजिक वर्गों में विभाजित हो गयी, इसके पश्चात् भी 'जनेश्वर' शब्द का प्रयोग प्रायः राजा अथवा 'प्रमुख' के लिए होता रहा जैसा कि महाभारत के मूलपाठ[12] से एवं रामायण से भी ज्ञात होता है।

वैदिक कालीन राजा को जनजातीय परिकल्पना से समीचीन करने के लिए एक शब्द 'विश्पति'[13] के संदर्भ को देखा जा सकता है। 'विश्पति' को प्रदेश अथवा निवास परिक्षेत्र का प्रधान माना गया है। परन्तु इसका वास्ताविक तात्पर्य ऐसे वंश के प्रमुख से है जहाँ उनके अपने ही कुटुम्ब के लोग निवास करते हों। इस प्रकार इसका अर्थ अन्य पाठ्यांशों से निकाला जाना आवश्यक है।

राजा, स्पष्टतः प्रजाजन (केवल जनता) के अधिपति या संरक्षण के रूप में आता है[14] यह तथ्य स्पष्ट है कि ऋग्वेद में विश् शब्द का उल्लेख 170 बार किया गया है।[15] यद्धपि इस संबंध का अभिप्राय वंश अथवा बस्ती से संबंधित किया गया है, परन्तु स्पष्ट रूप से यह करना अत्यधिक समाचीन होगा कि पहला अभिप्राय शब्द से अत्यधिक स्पष्टीकरण होता है। वैदिक शब्द 'विश्पति' महाकाव्यों में प्रयुक्त विशांपति का ही पूर्ववर्ती रूप है। यद्धपि महाभारत में इसका अत्यधिक प्रयोग जनता के अधिपति के रूप में किया गया है। इससे राजा के प्राचीन जनजातीय स्वरूप का आभास होता है। 'विश्पति' को विट्पति के साथ जोड़कर देखना कोई विभेद नहीं होगा, इसका अर्थ सर्वमान्य रूप में मानव के प्रधान अथवा राजा अथवा राजवंश का सदस्य के साथ जोड़ा जा सकता है। परवर्ती वैदिक काल में और वैदिकोत्तर काल के ग्रंथों में विशांपति विट्पति, विशमता अथवा विशमीश्वर से यह प्रकट होना है कि ऋग्वेद में 'विश्पति' का प्रयोग सामान्यतः कुल प्रमुख के रूप में हुआ है, किसी वस्ती के अधिपति के रूप में नहीं, स्वभावतः यह विवादित प्रश्न उठता है कि जब समान्यतः उस कुल के सदस्य या वंश के सामूहिक सदस्य तो स्वाभाविक रूप से, विश्पति को उस स्थान का अधिपति माना जाने लगा। इसी तथ्य को ग्रामीण के संबंध में देखा जा सकता है, ग्राम पहले वंशगत वांधव–वंधुओं के समूह के द्वारा स्थापित हुआ। इसका प्रधान ग्रामणी लड़ाई में नेतृत्व करता था। परन्तु ग्राम स्थायी रूप से बस जाने के कारण 'ग्रामीणी' को उस स्थान का अधिपति माना जाने लगा।

वंशगत बस्तियों के प्रमुख के विविध पक्षों को प्रकट करने वाले अन्य शब्द भी पाए गए हैं। यद्धपि राजा के लिए इसका प्रयोग विशेष रूप से नहीं जान पड़ता है पर इन शब्दों से प्रकट होता है आरंभिक काल में छोटे–मोटे कई सरदार होते थे। जैसे 'व्रातपा'[16] अर्थात व्रात का संरक्षक स्पष्टतया राजा के जैसा ही जनजातीय नेता रहा होगा। 'व्रात' सैनिक समूह[17] के रूप में एक कुल के सदस्यों का संगठन था, वैदिक सेना ऐसे ही कुटुम्बीय टुकड़ियों से बनती थी। 'पंचव्रात' की तुलना 'पंचजना' से की जा सकती है, जिसका अर्थ है मानव की 'पांच' जातियाँ। ऐसा प्रतीत होता है कि 'व्रात' और 'जन' 'समानार्थक' शब्द थे। हो सकता है कि व्रात और जन की संख्या पाँच से अधिक रही हो, एक 'जन' या व्रात में कितने लोग होते थे। यह स्पष्ट रूप से कहना कठिन बात है। कहीं–कहीं युद्ध में भाग लेने वालों की संख्या सवा सौ से भी अधिक बतलाई गई है। यह अनुमान लगाना कठिन है कि 'गण' की तुलना में 'व्रात' को किस आकार में रखा जाय। एक विशेष अवसर पर जिसमें योद्वाओं को एकत्रित होने को कहा गया है जिसमें 'व्रात' को पहले एवं 'गण' का उल्लेख बाद में किया गया है।[18] 'गण' के नेता को 'गणपति' नाम से सम्बोधन किया गया है, अन्य स्थान पर उसे 'राजन' भी कहा गया है।[19] 'गणपति' जिस उल्लेख ऋग्वेद एवं उत्तरवैदिक साहित्यों में बार–बार आया है[20] सम्भवतः वह एक जनजातीय नेता होता था।[21] इसी परम्परा के अनुसार महाकाव्यों में प्रयुक्त गणेश्वर[22] को इसी रूप में देखा जा सकता है।

अंतिम वैदिक कालीन ग्रेथों में ऐसे शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है कि राजा क्षेत्रीय और कर ग्राहक के रूप में दिखायी पड़ता है। राज्याभिषेक सम्बंधी संस्कार विधि में राजा की क्षेत्रीय और जनजातीय भूमिकाओं में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है, क्योंकि क्षेत्र स्थिर होता था, जबकि जाति अपना स्थान बदलती रहती थी।[23] राजा का क्षेत्रीय रूप राष्ट्र में सुस्थपित हो गया राष्ट्र शब्द की व्युत्पति रज से हुई है।[24] ऋग्वेद के

दशम मंडल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने का आग्रह किया गया है।[25] उत्तरवैदिक साहित्य में 'राष्ट्रगोप' शब्द मिलता है, जिसका प्रयोग राज्य के संरक्षक रूप में पुरोहित के लिए किया गया है।[26] राष्ट्रपति अर्थात राज्य के स्वामी के रूप में भी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में राजा के लिए पालक के रूप में 'राष्ट्रभूत' शब्द का प्रयोग आया है। इसी ग्रंथ में 'राष्ट्रिन' शब्द का भी प्रयोग है, जिसका अर्थ है राज्य पर अधिकार अथवा कब्जा।

यद्धपि समुदाय के रूप में जनपद शब्द का प्रयोग अनेक ब्राह्मण ग्रेथों में किया गया है।[27] किन्तु परवर्ती वैदिक ग्रंथों में ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रायः कम देखने को मिलता है, जिससे राजा को जनपद का स्वामी अथवा संरक्षक होने का भाव प्रकट होता हो। महाभारत में ऐसे शब्दों का प्रयोग अवश्य दिखायी पड़ता है।

जनपदेश्वर और जनपदस्य ईश[28] शब्द मिलते हैं, रामायण में भी जनपदाधिप[29] का प्रयोग मिलता है तथा पाणिनि ने 'जनपदिन' का प्रयोग किया है। परवर्ती वैदिक काल में प्रयुक्त 'राष्ट्रपति' 'राष्ट्रभूत' आदि शब्दों से पता चलता है कि राजा अपने क्षेत्र का संरक्षण करता था, परन्तु ऐसा शब्द नहीं मिलता है कि उसके कर–संग्रह के कार्यों को प्रदर्शित करता हो। राजा को भेंट स्वरूप दिया गया उपहार को 'बलि' के संयुक्ताक्षर को बलिहृत[30] का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में 'कर' के रूप में दी गई धनराशि राजा अथवा जनजातीयों के प्रमुख हेतु इस शब्द का आशय जोड़ा जा सकता है। बाद के ग्रंथों में राजा के लिए विशमता[31] शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है कृषकों का भक्षण करने वाला अर्थात अपने भाई बन्धुओं से जबरन कर वसूलने वाला राजा की इस भूमिका ने अपने वंशजों तथा सजातीय बन्धुओं को कमजोर करने लगी, राजा पर इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि वह ब्राह्मणों की रक्षा करे, 'कर' उगाहने का भाव वैदिक साहित्य में मिलता है, इसका भाव 'भोज' शब्द से स्पष्ट होता है।

अघतन ब्राह्मण ग्रंथ ऐतरेय ब्राह्मण जिसकी रचना लगभग 600 ई0पू0 की है 'भौज्य' शब्द का प्रयोग राज्य की विशिष्ट रचना हेतु किया गया है[32] भौज्य[33] की व्यत्पति 'भोज' से हुई है।

तद्न्तर में राजा रक्षक कम भक्षक ज्यादा होता चला जा रहा था, उत्तरवैदिक कालीन अनेक ग्रंथों में वर्णित विविध राज्याभिषेक तथा मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि जनजातीय कृषक वर्ग राजा के द्वारा 'कर' उगाहने का विरोध करता था।[34] फिर भी राजा से अपने संरक्षण की अपेक्षा रखता था। इस विशिष्ट अंतर्द्वंद का समाधान वैदिकोत्तर काल में वैचारिक स्तर पर किया गया है। लौह–हल पर आधारित वर्ण विभाजित समाज में धर्म–सूत्रों ने इस प्रकार के सिद्वांत को प्रतिपादित किया कि प्रजा के संरक्षण प्रदान करने के लिए तथा व्यस्वथा को सुचारूरूप से संचालित करने हेतु 'कर' लेने का अधिकार है।[35]

वैदिक कालीन ग्रंथों एवं शास्त्रों में इस प्रकार के बहुधा शब्दों का प्रयोग दिखायी पड़ता है। इस प्रकार राजा का कर ग्राहक रूप उभरकर आता है जैसे 'बलि' षड़भागहारिन[36] भागभुज[37] षड्भागभाक्[38] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

वैदिकोत्तर कालीन जनजातीयाँ विविध भागों में बँट गयी जिनका अपना अलग–अलग 'गृहपति' होता था। इस समय जनजातियों के अपेक्षा कृषि कार्य के रूप में कार्य करने वाली ईकाईयों का अत्यधिक महत्व हो गया। पेशे के आधार पर शिल्पियों एवं व्यापारिक का सामाजिक स्थिति महत्वपूर्ण हो गई। साथ ही साथ समाज में क्षत्रियों और ब्राह्मणों का वर्चस्प भी निरंतर बढ़ने लगा। समाज के सम्मुख अब प्रमुख समस्या वर्णों से आधारित हो गई अब सभी वर्णों के लोगों को एक साथ रहने और सामाजिक गतिविधियों के संचालन से संबंधित हो गई। राजा की छवि इस काल तक नए ढंग से दिखाने का प्रयास किया गया है, उसे अनेकों नए उपाधियों से विभूषित किया गया है। नृप[39] नरपति[40] नरेश्वर[41] नरेन्द्र[42] आदि उपधियाँ उसके लिए प्रयोग की जाने लगीं। इस तथ्य को आश्य यह देखने को मिलता है कि जो शब्द राजा के संरक्षक स्वरूप के आश्य को उद्घाटित करते थे, उनका प्रयोग स्वामित्व एवं आधिपत्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने लगता है जो सामाजिक सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष को पूर्णतया विभेदित करता है। राजा के प्रति प्रयुक्त किए शब्द किसी न किसी रूप में उसके प्राभूत्व के महत्ता को प्रदर्शित करता है। जैसे हम नरेश की व्याख्या करने पर देखते हैं 'नर' का अनुशासक (ईश) आदि।

जनजातीय जीवन में जीवन यापन के संसाधनों को एकत्रित करना सभी लोगों का प्रमुख कर्तव्य था। पर वैदिकोत्तर काल में श्रम का विभाजन दिखाई पड़ता है। समाज के प्रबंधकीय व्यवस्था को अनुसरण करने वाले लोगों की संख्या अत्यंत न्यून होने के पश्चात् भी सामाजिक गतिशीलता के प्रति सचेत एवं समृद्ध दिखाई पड़ते है। समाज के अधिकांश लोगों को उत्पादन एवं निर्माण के विविध क्षेत्रों में कार्य के प्रति सचेत रहने के

दायित्वों को निर्वहन की जिम्मेदारी का भार उठाना पड़ा। समाज वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को दर्शाता है। धर्म एवं प्रशासनिक दायित्वों को संचालन करने की जिम्मेदारी ब्राह्मण और क्षत्रियों को उठाना पड़ा। सभी वर्णों के धर्मों के प्रावधानों का वर्णन धर्मशास्त्र साहित्यों में वर्णित है।

राजा का धर्म विधि का संरक्षक ही नहीं वरन् उसके नष्ट होने पर प्रवर्तक के रूप में दायित्व का निर्वहन करना पड़ता था। इस प्रकार वर्ण विभाजन की प्रक्रिया के कारण समाज का एक निश्चित वर्ग पोषक का कार्य करने लगा। धर्मराज की पद्वी के रूप में केवल युधिष्ठिर के रूप में ही नहीं देख सकते हैं बल्कि इस उपाधि को ईसा की प्रारंम्भिक शताब्दियों के अभिलेखीय साक्ष्यों में अनेक राजाओं के नाम के साथ ही धर्मराज[43] का उल्लेख मिलता है। ईसा के दूसरी शताब्दी के अभिलेखीय साक्ष्यों[44] का उल्लेख करते है कि राजा वर्ण व्यवस्था के पोषक एवं संरक्षक होने का दायित्व का निर्वहन करने लगा। इस प्रकार राजा के इस कर्तव्यों का उल्लेख विभिन्न अभिलेखीय साथ्यों में मिलने लगता है। तीसरी एवं चौथी शताब्दी के साहित्यिक साक्ष्य पुराणों से स्पष्ट होता है सामाजिक व्यवस्था में उथल–पुथल के कारण वर्ण व्यवस्था की कठोरता में शिथिलता दिखायी पड़ता है। इस संकटपूर्ण अवस्था को कलियुग से संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार कलि के प्रकोप से सामान्य जन का उद्धार करने का दायित्व राजा का प्रथम कर्तव्य बनता है। उत्तरोत्तर काल में लगभग छठी शताब्दी के आस–पास के अभिलेखीय साक्ष्यों में एवं बाद के अभिलेखों में 'राजा' को 'वर्णधर्म' का पोषक बताया गया है। पल्लव राजा सिंह वर्मन के लिए कलियुग दोषावसन्न–धर्मोद्धारेण सन्नद्ध विशेषण का प्रयोग किया गया है।

राजा के प्रति प्रयुक्त पर्यायों के क्रम में अधिकतम महत्वपूर्ण तथ्य गुप्तकाल में और उसके बाद अधिकतर देखने को मिलता है। यद्धपि इस तथ्य का सूत्रपात्र मनु ने पूर्वकाल में ही कर दिया था। मनु के अनुसार राजा को कर वसूलनें का अधिकार इसलिए प्राप्त है कि वह 'महीपति'[45] अर्थात भूमि का स्वामी है। महीपति के लिए संज्ञा भूमि के संरक्षक के रूप में भी किया जा सकता है किन्तु 'मनु' ने भूमेरधिपति' (धरती का स्वामी) शब्द का प्रयेग किया गया है।[46] क्षेत्रीय स्वामित्व का विचार पूर्व के ग्रंथों में आया है।[47] फिर भी राजा को कर वसूलने के अधिकार से उसे पहली बार दूसरी शताब्दी में जोड़ा गया है। छठी शताब्दी के शास्त्रकार काव्यान ने इस स्थिति को और स्पष्ट कर उसे निरापद बना दिया है। कत्यायन के अनुसार भूस्वामिन[48] होने के कारण राजा उपज के चतुर्थांश का अधिकारी कहा है। इस प्रकार हमें भूस्वामिन और महीपति के बीच के विभेद को समझना होगा। स्वामिन का शब्द रूप शास्त्रीय है, और इस रूप में उसका प्रयोग धर्मशास्त्रों में किया गया है। अतः शास्त्रानुसार 'भूस्वामिन' राजा को भूमि के स्वामित्व को दर्शाता है। गुप्त काल के पूर्व के ग्रंथों में स्वामित्व के अर्थ रूप में प्रयोग किसा गया है। जो दिए गए शब्दों से भिन्न है। 'स्व' और 'मिन' के संयोजन से स्वामिन् शब्द के उत्पत्ति का अर्थ समझने के लिए हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती है। स्वामिन शब्द तीन शब्दों अर्थात स्वा+आम+इन के संयोजन से बना है जिसका अभिप्राय होगा कच्चे माल अथवा संसाधनों का स्वामी[49] स्वामिन शब्द की व्यम्पति कुछ भी रही हो पर यह शब्द मौर्यकाल के पूर्व के 'ग्रंथों' में बहुत कम दिखायी पड़ता है। अर्थशास्त्र के तृतीय अध्याय में कौटिल्य ने इस शब्द का प्रयोग दास और भृत्य के विपरीत अर्थ में किया है।[50] अर्थशास्त्र में स्वामित्व के कानूनी आधार को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है। कौटिल्य ने विवरण देते समय राजा अर्थात सर्वसत्ताधारी के अभिप्राय के रूप में परिभाषित किया है।[51] किन्तु यह संभव है कि अर्थशास्त्र का इस भाग को बाद में जोड़ा गया हो। राजा को स्वामी तो कहा गया है पर यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह भूमि का स्वामी है अथवा नहीं। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख 150 ई0 का है इसमें राजा के लिए स्वामिन् शब्द का प्रयोग किया गया है। आंध्र प्रदेश से मिले 400 ई0 के अभिलेखीय साक्ष्य में इस शब्द की पुनरूक्ति मिलती है। इस प्रकार इन सभी अमिलेखों में राजा के लिए 'स्वामिन' शब्द का प्रयोग मिलता है। अर्थात इससे उसे राज्य का मालिक के रूप में संबंधित किया गया है, भूमि के स्वामित्व के रूप में उल्लेख किसी भी स्थान पर नहीं मिलता है। फिर भी विविध तथ्यों के अध्ययन के आधार पर ऐसा आभास होता है कि यह शब्द भूस्वामित्व के तात्विक विशलेषण को समाहित करने में समक्ष है, और इसके आधार पर उसे भूस्वामित्व स्वीकारा जा सकता है।

राजा को 'भू–स्वामिन की उपाधि देकर उस तथ्य को विधिनुसार मान्यता दी गई की वह भूमि का स्वामी है। दूसरी ओर गुप्तकाल में विधि शास्त्रों में[52] में स्पष्ट वर्णित भू–सम्पत्ति के विभाजन नियमों से यह स्पष्ट होता है कि भूमि पर किसानों का वास्तविक कब्जा था। जैमिनी के अनुसार भूमि केवल राजा की सम्पत्ति न होकर[53] सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में थी। परन्तु इस कथन की अभिव्यक्त प्राचीन कालीन लगभग 400 ई0पू0 की स्थिति का आभास होता है। गुप्तकालीन परिस्थितियाँ पूर्णतया भिन्न हो चुकी थी। इस प्रकार जैमिनी के कथन

को शबर स्वामी ने खंडन किया है। शबर स्वामी का कथन है कि राजा का भूमि पर उतना ही नियंत्रण है जितना अन्य का[54] इस प्रकार नारद और कत्यायन ने भूमि पर राजा के स्वामित्व को पूर्णतया स्वीकारते हुए अन्य जनों के अधिकार को भी स्वीकार किया है।

कात्यायन द्वारा भूमि पर राजा के स्वामित्व को प्रतिपादन किए जाने के अतिरिक्त गुप्त काल और गुप्तोत्तरकाल के काव्यों और अभिलेखों में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है जिससे भूमि पर राजा के स्वामित्व और नियंत्रण को स्वीकार किया गया है।

उदाहरणार्थः— अवनीश, अवनीद्र क्षितिपति, क्षितीन्द्र, पार्थिव, पृथ्वीनाथ, भूप, भूपत्ति, भूमीश्वर, महीपति, महीपाल महींद्र, महीमहेंद्र, 'बसुधापति', सामंत भूमीश्वर,[55] इत्यादि विविध शब्दों से राजा को समीचीन किया गया है। ऐसे पर्यायवाची शब्द जिनके अन्त में पो 'पति' या 'पाल' जुड़ा है उससे संरक्षण अथवा अधिपतिएव का बोध होता है। महाभारत[56] में भी कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख आया है जो भूमि पर आधिपत्य एवं उनके काबिज होने का आभास कराता है। प्राचीन उपाधियों को नए—नए पर्यायावाची शब्दों से और नए पदवियों से विभूषित किया गया है। इन पदवियों का मुख्य संकेत यहीं मिलता है कि भूमि का स्वामित्व तथा भूमि का उपयोग करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया।

प्रारंभिक मध्यकालीन अनेकों अभिलेखों में शब्दों का प्रयोग मिलता है कि राजा द्वारा भूमि का उपयोग करने और उनका स्वामी होने का वर्णन है। साहित्यिक साक्ष्यों में भूमि का उपमा राजा की पत्नी के रूप में वर्णन मिलता है, जिस प्रकार राजा अपनी पत्नी का उपभोग करता है, ठीक उसी अनुरूप भूमि का उपभोग कर सकता है। सामाजिक विकास के आरंम्भिक काल में राजा का पृथ्वी पर स्वामित्व का एक लम्बा ऐतिहासिक वर्णन है। वर्णन है कि राजा आरंम्भिक अवस्था में कृषि कार्य करते थे। उल्लेख आया है कि कृषि का कार्य सर्वप्रथम पृथु वैन्य[56] ने किया। इस प्रकार वह प्रथम राजा माना गया।

अपने अधीन समस्त क्षेत्र का नाम पृथ्वी रखा। महाकाव्यों में उल्लेख आया है कि विदेह राजा 'जनक' ने हल चलाया था जिससे सीता का जन्म हुआ बताया गया है कि भूमि का कृषि कार्य हेतु आरम्भ होने के पश्चात् राजा के सम्मान और शौर्य एवं प्रशासनिक गुणों के सम्मान में भूमि स्वरूप क्षेत्र अथवा विस्तृत भू—भाग का हिस्सा भेंट में दिया गया होगा। यह ठीक उसी प्रकार का रहा होगा जिस प्रकार युद्ध में लूट का माल प्राप्त होने पर एक बड़ा भाग राजा को भेंट स्वरूप उपहार में देने का वर्णन है। हाथी और घोड़े भी ठीक उसी क्रम में प्राप्त होते रहे होंगे। समाज द्वारा भेंट में भूमि दिए जाने के अतिरिक्त युद्ध में भूमि कब्जा करने नदी—घाटी, तालाबों एव दल—दल भूमि एवं अन्य प्रकार की जंगली भूमि को कृषि योग्य बनाने में राजा की पहल प्रमुख रहा होगा, जिसके फलस्वरूप राजा के संसाधनों में वृद्धि होना नितांत हो जाता है। मध्यकालीन विविध स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि राजा कृषि योग्य एवं राजस्व योग्य भूमि का मालिक होता था, क्योंकि वह 'भोग' भोगकर और राजकीय 'भोग' वसूल करने का अधिकार रखता था[57]

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकालीन और मध्यकालीन में राजा के मौलिक स्थिति में परिवर्तन आया राजा जो सभी का मुखिया होता था वह भूस्वामी हो गया और समान्यतया उसे भूपति रूप में संबोधित किए जाने लगा। राजा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों एवं समर्थकों को भूमि का एक निश्चित भू—भाग अनुदान में देता था। इस प्रकार का कार्य वह समाज के मुख्य लोगों के सलाह पर ही करता रहा होगा।

इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के एक निश्चित प्रक्रियाओं के फलस्वरूप राजा अपने अधिकार को सैद्धन्तिक बना लिया और वह एक निश्चित क्षेत्र के सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं को संचालन में प्रमुख भूमिका रखने का स्वामी बन गया इस प्रकार स्पष्टया रूप से यह अवश्य कहा जा सकता है कि जनजातीय समाज का प्रमुख एक विशेष अन्तराल के पश्चात् राजतंत्रात्मक व्यवस्था को संचालित करने हेतु राजा अथवा स्वामी के रूप में विभूषित होने लगा।

संदर्भ और टिप्पणी :

1. एमील वेनवेनिस्त्े इंडो—यूरोपियन लैगूएज एण्ड सोसायटी लंदन, 1973 पृ. 311 व 312
2. एम. मोनियर विलियन्य, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी शब्द रंज अथवा रज्
3. वही

4. एम. मोनियर विलियन्स, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
5. वही
6. वही
7. एमील वेनवेनिस्ते, इंडो–यूरोपियन लैगूएज एण्ड सोसायटी, लंदन, पृ. 311 व 312
8. ए.ए. मैकडोनेल तथा ए.वी. कैथ, वैदिक इंडेक्स आफ नेक्स एण्ड सब्जेक्ट्स 2 खण्ड, लंदन पृ. I 377
9. वहीं I 269 पाद टिप्पणी 2.
10. सोम के 'गोपति जनस्य'– जनता का रक्षक कहा गया है। ऋग्वेद IX, 35.5
11. आर.एस. शर्मा, एस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इस्टीट्यूशन्स इन एंशिएंट इंडिया, दिल्ली 1968, पृ. 266.
12. जय–संहिता अर्थात उर–महाभारत, केशवराम के शास्त्री, गुजरात शोध संस्था द्वारा संशोधित (अहमहाबाद 1977) (एतदोपरांत जं. सं) 1,124.1; 187.15
13. वैदिक इंडेक्स, 11, 308 पाद टिप्पणी 6–9 सहित
14. वैदिक इंडेक्स 11, 305–306
15. आर.एस. शर्मा 264
16. देखिए व्रात एस.ई.डी.
17. वही
18. ऋग्वेद III, 26.6 हमारा मत है व्रात्य ऐसे व्रात का सदस्य था जो आर्य अथवा संस्कृत भाषी नहीं थे, ठीक उसी प्रकार का अन्तर 'जन' और जनस्य में दिखाई पड़ता है।
19. ऐतरेय ब्राह्मण IX .6
20. ऋग्वेद 11.23.2, x 113.9, तैतरीय ब्राह्मण III, 11:4,2; ऐतरेय ब्राह्मण, 1:21.
21. वही, ऋग्वेद 11.23.1
22. देखिए गण एस.ई.डी.
23. शर्मा, आर.एस. एस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीट्शन इन एंशियेंट इंडिया, दिल्ली–1968 पृ. 273
24. देखिए राष्ट्र एस.ई.डी.
25. ऋग्वेद x.173. 1–2 ऋग्वेद के पूर्व भागों में भी राष्ट्र शब्द का उल्लेख है, 11.223
26. ऐतरेय ब्राह्मण VIII.25 वैदिक इंडेक्टस 11.223 में उद्धृत
27. वही
28. जं. सं. 1, 148–3
29. 11, 63.48 एस.ई.डी. में उद्धृत, पृ. 410, खंड–2
30. ऋग्वेद VIII, 6.5.173.6
31. ऐतरेय ब्राह्मण VIII.17
32. भोज एस.ई.डी.
33. ऐतरेय ब्राह्मण एस.ई.डी. में उद्धृत पृ. 768. कालम–2
34. तैतरीय संहिता VIII, 7.1.2 X, 4.3.22 X 11.7.315 विश और क्षत्र के बीच संघर्ष के अनेक उदाहरण उद्धृत है।
35. पी.वी. फाणे 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 3 (द्वितीय आवृत्ति पूणे 1973) पृ. 27, 189
36. मनु, VIII, 308
37. मार्कण्डेय पुराण, शवद भागभुज, एस.ई.डी. में उद्धृत
38. मनु VIII 305
39. जं. सं. 1, 176.13; 180.4.12
40. जं. सं. 1, 180.5; 502.14
41. जं. सं. 1, 127 11, 175.14
42. मनु शब्द नरेंद्र एस.ई.डी. में उद्धृत

43. डी.सी. सरकार सलेक्ट इंसक्रिपशंस (कलकत्ता 1965), I खण्ड 2 सं 9 पंक्ति 2
44. गौतमी पुत्र शातफणों को प्राकृत भाषा में विनिवतित–चातुवण–संकरस कहा गया है, सलेक्ट इंसक्रिपशंस 1, खण्ड–2, सं0–8, पंक्ति–6
45. VIII.39 VII, 182
46. VIII, 439
47. पी.वी. फाणे संथा. श्लोक 16
48. वही
49. प्रो. आर.सी. पाण्डेय ने स्वामिन पर अपना विचार व्यक्त किया है।
50. अर्थशास्त्र 111, 13
51. वही तथापि 6.1. खण्ड 6 को अर्थशास्त्र का परवर्ती भाग माना गया है।
52. लक्ष्मण शास्त्री जोशी संपा. धर्मकोश 1, 251–1252, 1201 और 1207
53. VI.7.3 धर्म में उद्धृत 1, 793
54. VI 7.3. की टीका उसी में उद्धृत
55. अमरकोश 11.8 में पार्थिव, भूप, महीक्षित, महीभुक, चक्रवर्ती आदि पर्याय मिलता है।
56. महीक्षित जं. सं. 1, 55.26; 179.8
57. यू.एन. घोबाल कृत कंट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्र ऑफ द हिंद रेवेन्यू सिस्टम (कलकत्ता 1972) पृ. 394